प्रतिमान

समय
समाज
संस्कृति

जनवरी–दिसंबर, 2021
वर्ष 9, संयुक्तांक, 17–18

00intro_update 27-01-23_Layout 1 27-01-2023 15:22 Page ii

जनवरी-दिसंबर, 2021 (वर्ष 9, संयुक्तांक, 17-18)
समाज-विज्ञान और मानविकी की पूर्व-समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका

भारतीय भाषा कार्यक्रम
CSDS विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)
29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 फ़ोन : 91.11. 23942199
ईमेल : pratiman@csds.in; वेबसाइट : www.csds.in/pratiman
+
वाणी प्रकाशन
4695/21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 फ़ोन : 91.11.23273167, 23275710
ईमेल : vaniprakashan@gmail.com; वेबसाइट : www.vaniprakashan.com

सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़, 29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 के निदेशक अवधेन्द्र शरण के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक अमिता माहेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 4695/21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित और ऑप्शन प्रिंटोफ़ास्ट, 41, पटपड़गंज इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110092 में मुद्रित।
संपादक : रविकान्त

मूल्य : व्यक्तिगत : ₹ 350, संस्थागत : ₹ 500
विदेशों के लिए : $ 20 + डाक ख़र्च अतिरिक्त या किसी अन्य मुद्रा की समकक्ष राशि
ISSN: 2320-8201

अनुक्रम

संपादकीय

आज़ादी का अमृत महोत्सव

साहित्य और अस्मिता विमर्श

विविध संधान

समीक्षा लेख

समीक्षा

यह 'विरासत' अंक और आगे की राह

मौजूदा अंक दो अर्थों में 'विरासत' अंक है कि यहाँ आज़ादी के पचहत्तर साल में मनाये जा रहे अमृत महोत्सव के बहाने त्याग और संघर्ष के उस न-भूतो-न-भविष्यति दौर पर कुछ अनोखी सामग्री पेश की गई है, बल्कि इस अर्थ में भी कि यहाँ प्रस्तुत ज़्यादातर सामग्री हमारे पास पहले से मौजूद थी। इस बीच हमारे संपादक मंडल के दो संस्थापक सदस्य, प्रोफ़ेसरान अभय कुमार दुबे और आदित्य निगम, सीएसडीएस से सेवा-निवृत्त होकर नई पारियाँ शुरू कर चुके हैं, जिसके लिए मौजूदा टीम उनको ढेर-सारी शुभकामनाएँ देती है। उनकी सूझ-बूझ, मेहनत और कुशल संचालन के बग़ैर *प्रतिमान* की यह सुखद-सफल यात्रा ग़ैर-मुमकिन होती। इस भार को अपने दुर्बल कंधों पर लेकर चलने का संकल्प करते हुए हम अपेक्षा रखते हैं कि हमें उनकी सलाह, उनका स्नेह और मार्गदर्शन मिलता रहेगा। नरेश गोस्वामी को भी हम अभय जी की नई टीम का हिस्सा होने की बधाई देते हैं। सलाहकार मंडल में प्रो. हन्स हार्डर साहब का हम स्वागत करते हैं और मैनेजर पांडेय साहब की स्मृति को सधन्यवाद सलाम करते हैं। कोरोना-जनित मुश्किलात और दीगर विषम परिस्थितियों के चलते हम इस बार एक भारी-भरकम संयुक्तांक लेकर हाज़िर हैं, और यह सिलसिला हिन्दी पट्टी के सामाजिक इतिहास पर केंद्रित अगले अंक तक और चलेगा, ताकि हम वक़्त के साथ क़दम-ताल की स्थिति में वापस आ जाएँ। इस बीच

पाठकों, ग्राहकों और लेखकों की उत्कंठा और सहानुभूति हमारे साथ बनी रही, इसके लिए हम उनका तहेदिल से शुक्रिया अदा करते हैं और विलंब के लिए करबद्ध माफ़ी माँगते हैं। पिछले वर्ष आए हमारे सोलहवें अंक से आपने फ़ॉन्ट और डिज़ाइन में बदलाव नोटिस किया होगा, सो बदलाव का सिलसिला जारी रहेगा। एक दिलचस्प संयोग इस अंक में यह बना कि सीएसडीएस के किसी संकाय सदस्य का कोई लेख यहाँ शुमार नहीं है। हो सकता है कि अगले सामान्य अंक थोड़े दुबले हों, लेकिन वादा है कि उनमें सुपुष्ट और गुणात्मक सामग्री होगी। मौजूदा अंक के लेखों और समीक्षाओं के शीर्षक विषय को साफ़ ढंग से पेश करने में सक्षम हैं, इसलिए उनका ख़ुलासा न करते हुए हम कुछ और ज़ाहिर अनुपस्थितियों का ज़िक्र करेंगे। चूँकि इस बीच 'स्मृतिशेष' का एक संकलन वाणी प्रकाशन से ही छप चुका है, और चूँकि इतने सारे लोग हमसे बिछड़ गए हैं कि उन सबको ढंग से याद करना विशेष आयोजन की माँग करेगा, तो हम इस स्तंभ पर बाद में वापसी करेंगे। उसी तरह शुद्ध राजनीति और चुनाव पर केन्द्रित निबंध और परिचर्चाएँ भी हम यथासमय छापते रहेंगे। कुछ ऐतिहासिक तस्वीरें यहाँ डाली गई हैं उस ज़ख़ीरे से जिसे विस्मृति और काल-कवलित होने से बचाने का उद्यम हमने शुरू किया है। पिछले कवर पर जो दिलचस्प बॉर्डर है, वह दरअसल एक पूरा पर्चा है, जिसे पटना की युवक मंडली के नामित सदस्यों द्वारा सन 1932 के होली के समय स्वदेशी वस्त्र के उपयोग की हिमायत में जारी किया गया था; संदर्भ और सनद के लिए हमने उसकी अनुकृति प्रभात कुमार को अभिलेखागार से खोज निकालने के लिए धन्यवाद के साथ डाल दी है। प्रतिबंधित साहित्य पर हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय के साथ चल रही हमारी एक परियोजना पर काम करते हुए यह अहसास गहरा होता जा रहा है कि इतिहासकारों और साहित्यकारों, दोनों ने इस उर्वर ज़मीन पर ढंग से खेती नहीं की है। अभिलेखागारों मे पड़ा अकूत माल अमृत महोत्सव काल में भी अदृश्य ही रहा। हिन्दी साहित्यकारों की दुर्लभ तस्वीरों से सजा एक अल्बम हमें *कहानी* के 1955 के विशेषांक से मिला, जिसे आपसे बाँटकर एक ख़ास ऐतिहासिक सुख की अनुभूति हो रही है।

जिस गति और उत्साह से कंप्यूटर-जनित कृत्रिम बुद्धि का प्रयोग स्वचालित वाहन चलाने से लेकर कारख़ानों के रोबोटिक्स और सामान्य गूगल सर्च से लेकर मशीनी अनुवाद तक, हर जगह हो रहा है, उससे स्पष्ट है कि इसकी मौजूदा सीमाओं के बावजूद भविष्य की राह यहीं से गुज़रती है। उसके समांतर समाजविज्ञान के सीमांत पर अंतर-अनुशासनिक अनुशासन और उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती प्रविधि के रूप में 'डिजिटल मानविकी' पिछले दसेक सालों में एक वैश्विक मुहिम बन चुकी है। यह भी ज़ाहिर है कि इस ज्ञान का आधार ही डिजिटल या आंकिक डेटाबेस है जो या तो जन्मना डिजिटल है या पुराने माध्यम में मौजूद दस्तावेज़ी विरासत को नए डिजिटल रूपों में परिवर्तित करके सँजोने के साथ-साथ उसके पुनर्संयोजन का व्यायाम है। हर अभिलेखागार या तो पुराने दस्तावेज़ों को उनके

आदिम रूप में मज़बूती प्रदान करता है, या उसकी प्रतिलिपि बनाकर उसको नया जीवन देता है या उसकी उम्र दराज़ करता है: माइक्रोफ़िल्म, माइक्रोफ़िश, ज़ेरॉक्स, स्कैन आदि विविध प्रौद्योगिकियों के नाम हैं, जिनके ज़रिए अभिलेखकर्मी अभिलेखों को नई ज़िंदगी देते हैं। जैसे ही दस्तावेज़ की तस्वीर ओसीआर के ज़रिए मशीन के पढ़ने के लायक़ बनती है उसके अंदर सर्च संभव हो जाता है, और हम बड़े-बड़े संकलनों में (मसलन, प्रोक्वेस्ट पर *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* या राष्ट्रीय अभिलेखागार के अभिलेख पटल पर) अपनी मनपसंद खोज चंद सेकंड में कर सकते हैं। भले ही भारतीय भाषाओं में ओसीआर अब तक उतना सटीक नहीं हुआ है, या विभिन्न मंत्रालयों से दस्तावेज़ों को राष्ट्रीय अभिलेखागार में स्थानांतरित करने में कोताही बरती जा रही[1] हो, लेकिन आगे की राह तो यही है।

आजकल सीएसडीएस में हमलोग एक डिजिटल अभिलेखागार बनाने में लगे हैं। सराय से जुड़े शोधार्थियों द्वारा जुटाया एक मल्टी-मीडिया संग्रह तक़रीबन 20-22 सालों से है ही। आप चाहें तो इस अभिनव पहल को भारतीय भाषा कार्यक्रम का भी एक सहज विस्तार मान सकते हैं, क्योंकि हमारे संग्रह में हिन्दी-उर्दू-संस्कृत की छपी हुई सामग्री ज़्यादा है, हालाँकि हमारे अन्य सहकर्मियों की बढ़ती दिलचस्पी के चलते इसका दायरा लगातार बढ़ता जा रहा रहा है, जिसमें सीएसडीएस से संबद्ध विद्वानों के निजी संग्रह भी शामिल होंगे। हिन्दी जगत में ज्ञान-विज्ञान के विरसे के प्रति एक ख़ास तरह का उपेक्षा-भाव नामित, तिथ्यांकित और पृष्ठांकित उद्धरण या संदर्भ न देने के हमारे आलस में द्रष्टव्य है, जिसके नतीजे के तौर पर वह ज्ञान अनुल्लिखित होते-होते कालांतर में विस्मृत हो जाता है। इसे हमने 'भारतीय भाषाओं का अदृश्य ज्ञान' भी कहा है। बहरहाल, दुर्लभ और तेज़ी से लुप्त होती सामग्री के संग्रह के हमारे हालिया प्रयासों के लिए की गई यात्राओं के क्रम में कहीं-कहीं महज़ दास्तानें मिलीं उन लम्हों की, जो महमहाते पुस्तकालयों के वक़्त से गिरे थे, कहीं और कुप्रबंधन या उदासीनता के दीमक लगने से क्रमश: छीजते जाते पुस्तकालयों के त्रासद दर्शन हुए तो चंद अपवादस्वरूप जगहों पर यह भी ज़ाहिर हो गया कि कुछेक धुरंधर ऐसे हैं, जिन्होंने संग्रह करने में न सिर्फ़ अपनी पूरी ज़िंदगी लगा दी, बल्कि उस ज्ञानराशि को सहेजने के लिए अपनी उम्र के बावजूद बज़िद और प्रतिबद्ध हैं। हाल के सालों में हमें पत्रकार भगत वत्स, कवि अजितकुमार, दिल्ली विश्वविद्यालय से सेवा निवृत भाषा शास्त्री डॉ. विमलेश कान्ति वर्मा के बेशक़ीमती पुस्तक संकलन मिले हैं, जिन्हें हम धीरे-धीरे मुक्त जनपद में मुहैया कराते रहेंगे।

ऐसे संग्रह करने वालों से मेरी पहली मुलाक़ातें अपने शोध के दौरान हुईं, जिसके

---

[1] 'गुड गवर्नेंस' पर हुई इस विचार गोष्ठी *इंडियन एक्सप्रेस* में राष्ट्रीय अभिलेखागार के महानिदेशक, चंदन सिन्हा, के हवाले से छपी एक ख़बर: https://indianexpress.com/article/opinion/columns/national-archives-no-records-wars-government-controls-narrative-8345341/

नतीजे के रूप में सिनेमा को पर्दे से परे सराहने की लोक-संस्कृति का क्षैतिज और लंबवत दोनों तरह का विशद विस्तार मुझे दिखा।[2] राष्ट्रीय फ़िल्म अभिलेखागार काम की जगह है लेकिन मुकम्मल जगह नहीं, क्योंकि वहाँ पत्र-पत्रिकाओं के छोटे-से संकलन में भी बहुत सारी फ़ाइलें ग़ायब हैं। ऐसे हालात में उस प्राणी को भी याद कर लें जो निजी तौर पर फ़िल्मी सामग्री इकट्ठा करता चला जाता है और अपने संग्रह के तमाम इंदराज को न सिर्फ़ याद रखता है, बल्कि कोई-सा प्रसंग छेड़ो उसमें से कुछ न कुछ नया ढूँढकर आपके हाथ में देकर ख़ुश होता है। एक ऐसे ही प्राणी थे कानपुर के जंतुविज्ञान के प्रोफ़ेसर, अकाल-काल-कवलित डॉ. राकेश प्रताप सिंह, जिनके ज़रिये मैं लोकप्रिय सामग्री के कलेक्टर या संकलक को समझने की कोशिश करूँगा। राकेश जी स्वभाव से वैरागी थे, अगर कोई मोह था उनको तो अपने उस संकलन से, जिसे उन्होंने अपने तीसरे बच्चे की तरह नाज़ों से पाला था। दो बच्चे तो बड़े होकर देश-विदेश में जा बसे, गोया अपने माता-पिता की तीसरी संतान के लिए घर में जगह कम पड़ गई हो।

राकेश जी गायक-अभिनेता तलत महमूद के मुरीद थे: मेरी यह ख़ामख़याली है कि हर संकलक मूलत: किसी न किसी सितारे का फ़ैन होता है। सिने-संगीत को सुनने की लोकप्रिय आदत ने श्रव्य-सितारों की एक पूरी p ´ का निर्माण किया, जिनके अस्तित्व के लिए प्रशंसकों की बड़ी तादाद लाज़िमी है। एक ही आदर्श के पीछे प्रशंसक बहुत सारा मायाजाल जमा कर लेता है, वह भी इस हवस से कि कहीं कुछ छूट न जाए। फिर संकलन के दौरान पता चलता है कि तलत की जीवनी दरअसल कई दीगर जीवनियों से टकराती है। तलत ने रेडियो, सिनेमा, ग्रामोफ़ोन और मंच के लिए बहुभाषी गायन करने के अलावा कई फ़िल्मों में बतौर अभिनेता भी काम किया। तो हर वो चीज़ जो तलत की पेशेवर ज़िंदगी से जुड़ती है, उसकी अगर कोई भी निशानी - ऑटोग्राफ़, किताब, तवा रिकॉर्ड, सिनेमा हॉल के आगे मिलने वाली चौपतिया पुस्तिकाएँ, टेप, वीएचएस, वीसीडी या फ़ोटो कहीं मिल जाए तो राकेश जी उसको सँभाल लेंगे और बाद में चलकर 'तलत गीत कोश' बनाएँगे, जिसकी सूची से बाहर शायद ही कुछ होगा। लेकिन इस किताब का संकलन करने से पहले राकेश जी हिन्दी फ़िल्म संगीत के कनरसिया थे : गाने ग्रामोफ़ोन और रेडियो पर सुनते थे, बार-बार फ़िल्म देखकर गाने अपनी डायरी में नोट करते थे, रेडियो सुनते या टीवी देखते हुए हर नायाब कार्यक्रम की नक़ल भी बनाते जाते थे, अख़बारों से क़तरनें काटकर रखते जाते थे। फ़िल्मी पत्रिकाएँ और किताबें पढ़ते थे, उनमें आए इनामी-ग़ैर-इनामी सवाल हल करके भेजते थे। यह अभिलेखागार उस सामूहिक काम के लिए सहायक सिद्ध हुआ जिसे आवाज़ की दुनिया के लोग 'लिस्नर्स बुलेटिन' और हिन्दुस्तानी सिनेमा के विद्यार्थी 'हिन्दी फ़िल्म गीत कोश' के नाम से जानते हैं, जो हिन्दी सिनेमा के नामों, कलाकारों, किरदारों और सिनेकर्मियों का सबसे बड़ा डेटाबेस या आँकड़ाधार है।

---

[2] यह खंड *मीडिया की भाषा-लीला* से नक़ल-चेपी है.

इस सामूहिक काम में कानपुर के ही हरमंदिर सिंह 'हमराज़' के अलावा जगदीश निगम और रमेश चंद्र मिश्रा ने अथक परिश्रम करके रेडियो श्रोता-संघों के फैले हुए समाज को एक मंच दिया, एक नेटवर्क से जोड़ा। सत्तर के दशक से निकल रहे 'लिस्नर्स बुलेटिन' में ही अनिल भार्गव जैसे गीतमाला के अखंड श्रोताओं ने पहले-पहल लिखा और यहीं गीतकोश के संकलन के लिए श्रोताओं से योगदान माँगे गए, और जब शनै: शनै: कोश छपकर आने लगा तो उसके प्रचार-प्रसार का माध्यम भी 'बुलेटिन' ही बना। कुछ अपरिहार्य कारणों से जब समूह टूटा तब तक इतिहास बन चुका था, या यूँ कहें कि भविष्य के ध्वनि-इतिहासकारों के लिए कम से कम एक समतल लॉन्चिंग पैड तो तैयार हो ही चुका था।

संकलन को शौक़िया शुरू करके एक जुनून की हद तक ले जाने वाले लोगों का एक मीडिया या एक फ़ॉर्मेट से काम नहीं चलता। मशीनी रिकॉर्डिंग के बदलते तौर-तरीक़ों के साथ अपने संकलन को भी उन्हें अद्यतन करते रहना पड़ता है। मिसाल के तौर पर 73-आरपीएम के रिकॉर्ड को टेप में और टेप को वीसीडी, डीवीडी में या धारावाहिक तौर पर हार्ड डिस्क में सँजोते जाना होता है; यानि संकलन का काम उम्र के साथ बदलते माध्यमों के आर-पार आवाजाही का है, माध्यम-परिवर्तन का भी है, वरना पुराने माध्यम में दर्ज हर चीज़ कबाड़ होती चली जाएगी। नई मशीनें पुराने डेटा को पढ़ सकें, इसके लिए संकलकों को नित नई जुगत लगानी पड़ती है और इस प्रक्रिया में क्षणिक या क्षणभंगुर मान ली गई हर चीज़ को वे लंबा जीवन देते हैं और इस तरह उनकी क्षणभंगुरता की परिभाषा को पलटकर रख देते हैं। फिर, अक्सर उनमें औदार्य कूट-कूटकर भरा होता है; उनके अभिलेखागार के दरवाज़े शोधार्थी के लिए हमेशा खुले होते हैं, संकलन की झोली का मुँह कम से कम मुझे तो कभी बंद नहीं मिला। क़ुदरती तौर पर विनयशील संकलक की एक और ख़ासियत यह है कि वह अपने काम को अंतिम या पूर्ण नहीं मानता, इसलिए अगर आप हेमंत कुमार या किशोर कुमार के गीतों का संकलन देखें तो कुछ पन्ने सादा पाएँगे, इस आमंत्रण और अपेक्षा के साथ कि कुछ छूट गया हो तो पाठक अपनी तरफ़ से जोड़ दें। सिनेमा का हर इतिहासकार उनका शुक्रगुज़ार होगा क्योंकि सिने-सामग्री को अपनी अल्मारियों में जगह देना हर सम्मानित पुस्तकालय अपनी हेठी मानता आया है। सिने-पत्रिकाओं को (ज़ाहिर है, पढ़कर) कूड़े में फेंक देना आम रिवायत है, जहाँ से उठाकर संकलक उन्हें महफ़ूज़ रखते आए हैं। इंटरनेट के आने से हिन्दुस्तान, पाकिस्तान और पूरी दुनिया में फैले ऐसे सिने-प्रेमियों-सह-संकलकों की दृश्यमानता बढ़ी है, बल्कि आपस में और सिनेमा को सराहने वाली नई पीढ़ी से जुड़ने के बेहतर मंच और मौक़े मिले हैं। गूगल से पूछें तो बहुत-सारी फ़ैन-साइटें और इलेक्ट्रॉनिक मंच आपको मिल जाएँगे, और यूट्यूब पर अब तक दुर्लभ या अप्राप्य मानी जाने वाली फ़िल्मों की बढ़ती तादाद से सिने-इतिहास के पारंपरिक कैनन को पुनरीक्षित करने और लिखने के तौर-तरीक़ों में आमूल-चूल बदलाव

करने की ज़रूरत तो महसूस की ही जा रही है।

एक सामूहिक कर्म के तौर पर आरंभ होकर जिस तरह राकेश जी का संकलन ताउम्र उनकी ज़िद के चलते विस्तार पाता रहा, उस तरह की मिसालें मुझे अन्य शहरों में मिलीं। आज़ादी के ज़माने में हर शख़्स जेलयात्री नहीं था, लेकिन जो थे, उन्होंने भरसक कोशिश की लोग उनके काम से जुड़ें, उनके काम को सराहें, इसीलिए आज़ादी के पहले ही कई शहरों में फैले मारवाड़ी लायब्रेरी जैसे सामुदायिक जन-पुस्तकालयों का एक नेटवर्क स्थापित हो गया था, जो शिक्षण-संस्थाओं और ग्राम-पंचायतों का संरक्षण पाकर पिछली सदी के सत्तर और अस्सी के दशक तक दूर-दराज़ तक फैलता-फूलता रहा। मुझे याद है कि मेरे गाँव में भी कम-से-कम उसकी चार-पाँच अल्मारियाँ शेष थीं। अब तो क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों के बड़े पुस्तकालयों के पास भी वह थाती मुश्किल से बची है, गाँवों की संपदा तो लुप्तप्राय है ही। सरकारों ने संसाधनों से हाथ खींच लिए हैं, पंचायतों और नगर निगमों की प्राथमिकताएँ बदल गई हैं। जिनके पास जगहें थीं, वे शहर में छोटी जगहों पर रहने को मजबूर हैं, इसलिए जो संग्रह थे भी, वे देखरेख के अभाव में क्रमश: सड़-गल रहे हैं या नष्ट हो चुके हैं, और इसके लिए ब्रिटिश लायब्रेरी जैसे अंतरराष्ट्रीय पुस्तकालयों के पास बरसों से 'एन्डेन्जर्ड आर्काइव कार्यक्रम' चल रहे हैं।[3] इसी एक कार्यक्रम के तहत घूमते हुए अगर हमारा साक्षात्कार कुछ मशहूर संस्थाओं के मशहूर पुस्तकालयों के वर्तमान दुरवस्था से हुआ, तो शुक्र है कि दो-तीन दिलचस्प लोग और उनके निहायत अच्छे संग्रहों के दर्शन भी हुए, जिससे यह पता चला कि ऐसे चुनिंदा लोगों ने संरक्षण का काम बहुत पहले अपने हाथ में ले लिया था। निहायत पढ़े-लिखे सरैया गाँव, बिहार, के निवासी और हिन्दी के मशहूर कवि, लेखक और *लोकमत समाचार* से सेवा-निवृत्त पत्रकार श्री प्रकाश चंद्रायन तक़रीबन 17 साल बाद नागपुर से अपने गाँव लौटे। उनके लौटने का हमें भी बेसब्री से इंतज़ार था। उनसे हरी झंडी मिलने पर मनोज मोहन और मैं जब उनके गाँव गए तो हमारी ख़ुशी का ठिकाना न रहा, क्योंकि उनके पास छठे-सातवें दशक की *सारिका* और *दिनमान* के अलावा बद्रीविशाल पित्ती की *कल्पना*, श्रीपत राय की *कहानी* (सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद) और निहायत चमकदार काग़ज़ पर छपे *चीन सचित्र* की फ़ाइलें उम्मीद से उम्दा हालत और अच्छे मिक़दार में हासिल हुईं। तक़रीबन साल भर पहले हैदराबाद जाने के बावजूद *कल्पना* नहीं मिल पाने का मलाल जाता रहा। *कहानी* का सन 1955 का एक नववर्षांक तो ऐसा मिला जिसमें 'मैं कहानी कैसे लिखता हूँ' विषय पर पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', यशपाल, अण्णा भाऊ साठे, अश्क और व्यंकटेश माडगूलकर के बीच निहायत मनोरंजक परिचर्चा और उनकी कहानियों के साथ-साथ मंटो (टोबा टेक सिंह), रज़िया सज्जाद ज़हीर (दिल की आवाज़), इस्मत (नन्हीं-सी जान), कृष्णा सोबती (बादलों के घेरे), रांगेय राघव (गदल), वृंदावनलाल वर्मा (सत्त बोले मुक्त है), अज्ञेय (कलाकार की

[3] https://eap.bl.uk/

मुक्ति), हरिमोहन झा (खट्टर काका का आयुर्वेद प्रसंग), कमलेश्वर (क़स्बे का एक आदमी) और बलराज साहनी (मधुर याद) जैसी विभूतियों की रचनाएँ एक ही जिल्द में, बातस्वीर पाकर, घोर आह्लाद हुआ। इतना ही नहीं, देश-विदेश की अन्य कहानियों के अलावा मराठी कहानी की वार्षिक समीक्षा भी छपी है, यानि कि अंक उस दौर के अल्फ़ाज़ में, सर्वांग संपूर्ण था। प्रकाश जी से एक और सूची हासिल हुई पुस्तकालय से किताबें इश्यू कराकर ले जाने वालों की, जिसके आधार पर हम उस गाँव की पाठकीय संस्कृति का इतिहास लिख सकते हैं कि कौन-सी किताबें किस बारंबारता से किन लोगों के द्वारा पढ़ी जा रही थीं। ज़ाहिर है कि ये संग्रह और ऐसी सार्वजनिक जगहें सिर्फ़ पुस्तकालय नहीं होते थे, बल्कि गाँव में चिंतन-मनन के मंच हुआ करते होंगे, जहाँ हम कल्पना कर सकते हैं कि लोग शाम में रेडियो पर समाचार भी सुना करते होंगे और सरकारी प्रचार और बीबीसी की नुक़्तानिगारी पर ख़ुद अपने हिस्से की टीका-टिप्पणी भी अवश्य करते होंगे, गर्मियों में बाहर चारपाइयाँ डालकर और सर्दियों में जलते हुए घूरे या अलाव के इर्द-गिर्द। इसी तरह अहमदाबाद जाकर नरेश दुदानी के विशाल पत्रिका-संग्रह के साथ दो-एक दिन गुज़ारना निहायत सुखद था। आने वाले वक़्त में हम इन स्मृत-न्यासियों के रचनात्मक और समयसाध्य श्रम पर बातचीत प्रस्तुत करने के साथ साथ इस थाती से चीज़ों का पुनरुत्पादन करते रहेंगे।

पटना सिटी की नवयुवक मंडली द्वारा जारी

तरम्

वेदन

पूर्ण समय में प्रत्येक देश

र्तव्य है कि … के प

द्दर और स्वदेशी वस्तु ही

दे स्वांग, गंदे गीत, परस्पर में कीचड़ इत्यादि के

ारका भी पूर्णरुपसे विरोध करें।

क :— पं. जगदीश नारायण पाण्डेय।

कार्य। मेहता चूडा मणि, काशीनाथ गुप्त, राम लक्ष्मण शर्मा।

की जये

प्रकाशित किया

निवेदन, 1932 ई. (शुक्रिया, प्रभात कुमार)